गाँधी, जिन्ना और नेहरू

शंकर शरण*

गाँधी, जिन्ना और नेहरू के मूल्यांकन, भारत-विभाजन की पीठिका, जिसे बनाने एवं बढ़ाने में विभिन्न नेताओं, विचारों, संगठनों तथा घटनाओं की भूमिका, उसके तात्कालिक एवं दीर्घकालीन परिणाम, आदि के बारे में हमारे देश में प्रायः आधे-अधूरे या अतिरंजित विवरण पढ़ाए जाते रहे हैं। जहाँ तक देश विभाजन के सिद्धान्त, और तत्सम्बन्धी विमर्श का प्रश्न है, तो उसे कभी ठीक से छुआ भी ही नहीं जाता।

इसमें पहला दिलचस्प तथ्य यह है कि जिन्ना और नेहरू दोनों ही अपने-अपने धार्मिक समुदाय के विश्वासों, परम्पराओं, संस्कृति से बहुत कटे रहे थे। जिन्ना अपने विचारों, जीवन-शैली, आदतों आदि में लगभग पूर्णतः गैर-इस्लामी थे। पूरे अँग्रेज, उदारवादी, यूरोपीय किस्म के आधुनिक, व्यक्तिवादी और स्वच्छन्द। उसी तरह, नेहरू के भी संस्कार अपने पिता मोतीलाल नेहरू की तरह लगभग उसी तरह थे। अपनी माता के कारण उनमें हिन्दू धर्म की मान्यताओं की कुछ धुँधली, हल्की, भावनात्मक समझ चाहे रही हो। अन्यथा वे लगभग हिन्दू-विरोधी सामाजिक मूल्यों में दीक्षित हुए थे। उनके प्रभावशाली पिता मुस्लिम-प्रभावित हिन्दुओं जैसा जीवन जीते रहे थे।

यह अकारण नहीं कि बाद में जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं को मुस्लिम मिजाज का व्यक्ति कहा, जो उनके अपने ही शब्दों में केवल 'जन्म की दुर्घटना से' हिन्दू था।[1] यह हल्के से कही बात नहीं थी। उनके अनेक समकालीन और निकटवर्ती अवलोकनकर्ता भी इसे एक तथ्य के रूप में लेते थे। नीरद सी. चौधरी ने लिखा है–

अपने सामाजिक और सांस्कृतिक लगाव से वह (नेहरू) एक हिन्दू के बजाय मुस्लिम अधिक हैं, यदि उनमें कोई भारतीयता है भी। उनका परिवार इस्लामीकृत हिन्दुओं (Islamized Hindus) में से आता था और युक्त प्रान्त में वैसे हिन्दू जो परिष्कृत थे, प्रायः प्रान्त के मुसलमानों के साथ ही उठते-बैठते थे, क्योंकि वे अधिक सुसंस्कृत थे, जबकि हिन्दू लोग एक तरह के उजड्ड थे। साथ ही नेहरू को हिन्दुत्व की कोई समझ न थी और न उसे वह पसन्द ही करते थे।[2]

---

* संपर्क : 4/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली-110016

बचपन से ही जवाहरलाल पर इस्लामी-ईसाई मूल्यों का अधिक प्रभाव पड़ा था। अतः जब इंग्लैंड में पढ़ाई पूरी कर वे बैरिस्टर बनकर भारत लौटे तो वह अपने ही देश में पराए से थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि वह अपने को दूसरों से ऊँचा और भिन्न महसूस करते थे, जो यहाँ के लोगों के लिए सहज-स्वीकार्य होना कठिन लगता था ('I was a bit of a prig, with little to commend me.') वह अपनी शिक्षा, विचार और तौर-तरीकों में लगभग पूर्णतः यूरोपीय थे, जिसे भारतीय परम्परा, संस्कृति की कोई समझ नहीं थी।[3]

सन् 1922 में जब युवा जवाहरलाल यहाँ गाँधी जी के खिलाफत-असहयोग में जेल गए तो उनके पढ़ने के लिए घर से कोई दो सौ पुस्तकें भेजी गई थीं। उनके एक जीवनीकार ने उसकी लम्बी लिस्ट भी दी है। उसमें तमाम यूरोपियन साहित्य था, जबकि एक भी भारतीय ग्रन्थ न था, न साहित्य, न धर्म, न संस्कृति सम्बन्धी।[4] भारतीय चिन्तन, दर्शन, मनीषा और समाज के प्रति यह अज्ञान, उपेक्षा और हिकारत का भाव भी उनमें अन्त तक रहा। इस तथ्य को उनके प्रशंसक विद्वानों ने भी नोट किया है।[5] इस प्रकार लालन-पालन, परिवेश, शिक्षा-दीक्षा तथा रुचि, हर तरह से नेहरू भारतीय हिन्दू समाज से बिल्कुल दूर रहे।

तब स्वाभाविक था कि नेहरू अपने को ब्रिटिश मानसिकता के अधिक निकट महसूस करते। लगभग चौंतीस वर्ष की परिपक्व आयु तक उन्हें कभी भारत में अँग्रेजों के हाथों निम्न व्यवहार का व्यक्तिगत अनुभव भी नहीं हुआ था। सन् 1923 में नाभा में गिरफ्तार कर उन्हें पहली बार हथकड़ी लगाई गई, तब उन्हें अपमान-बोध हुआ। इस के बाद भी, अन्त तक वह स्वयं को भारतीय लोगों से किंचित अलग ही महसूस करते रहे।

यहाँ तक कि 1947 में लॉर्ड माउंटबेटन के नए वायसराय के रूप में आने की खबर सुनने पर नेहरू को एक तरह के अपनापे भरी खुशी हुई। तब तक नेहरू 58 वर्ष के यानी लगभग वृद्ध व्यक्ति हो चुके थे। माउंटबेटन के आगमन की खबर पर उनके शब्द यह थे : 'इन सब हिन्दुओं के बीच एक साफ-सुथरे, अँग्रेज समाजवादी से मिलना बड़ा सुखद रहेगा।' ('After all these Hindus it will be good to meet a straightforward English Socialist again.'[6])

इसमें अपने साथी काँग्रेस नेताओं की ओर हेय संकेत कितना स्पष्ट था! यह भी कि उन सहयोगियों की हीनता का कुछ सम्बन्ध उनके हिन्दू होने के कारण भी था। यह केवल अपने सहयोगी काँग्रेस नेताओं से ही नहीं, वरन सम्पूर्ण भारतीय हिन्दू समाज से भी नेहरू की व्यावहारिक भावनात्मक दूरी का एक संकेतक है। मानो काँग्रेस के अपने सहयोगी बन्धुओं के साथ रहना, समय बिताना नेहरू की पारिस्थितिक विवशता भर रही हो।

लन्दन में पढ़ाई के दौरान नेहरू जी का ढंग उच्चवर्गीय रेडिकल वाला था, जो रोजी-रोटी की चिन्ता से मुक्त, जीवन की कठोर वास्तविकताओं के अनुभव से

अपरिचित, विचारों-कल्पनाओं में तरह-तरह की कवित्वमय, रूमानी, क्रान्तिकारी भावनाओं से ओत-प्रोत रहता है। जिसमें वास्तविकता को कठोरतापूर्वक जाँचने-परखने तथा तदनुरूप नीतियाँ या कार्यक्रम बनाने के प्रति स्वभावगत अनिच्छा पाई जाती है। क्योंकि वह रूमानी, क्रान्तिकारी मनोभाव की तुष्टि के विपरीत पड़ती है (यह भी कारण है कि नेहरू अपने प्रिय आदर्श, सोवियत कम्युनिज्म की कटु वास्तविकताओं पर सदैव आँखें मूँदे सहानुभूतिपूर्ण बने रह सके)। प्रायः ऐसा रूमानी, उच्चवर्गीय व्यक्ति जाने-अनजाने ठकुरसुहाती पसन्द करता है, यानी अपने विचारों की प्रशंसा चाहना और आलोचना करने वाले को नापसन्द भी करता है।

नेहरू की तरह जिन्ना भी उच्चवर्गीय थे और व्यक्तिगत रूप से गैर-इस्लामी, बल्कि इस्लाम-विरोधी रुचि के। उनकी जीवन-शैली यूरोपीय, व्यक्तिवादी और स्वच्छन्द थी। अपने राजनीतिक विचारों में जिन्ना ब्रिटिश शैली की संवैधानिक राजनीति और कानूनी-पद्धति के समर्थक थे। गाँधी जी की तरह भीड़ को राजनीतिक गतिविधियों में जोड़ना-खींचना उन्हें बिल्कुल नापसन्द था। इसे वह खतरनाक और हानिकारक मानते थे।

जिन्ना का मूल राजनीतिक दृष्टिकोण ब्रिटिश साम्राज्य के नाम-भर अधीन भारतवासियों के लिए सम्मानपूर्ण जीवन प्राप्त करना था। यही लम्बे समय तक उनका दृष्टिकोण रहा। इस अर्थ में जिन्ना गाँधी और नेहरू दोनों से भिन्न थे। गाँधी अपने ही शब्द में 'राज-भक्त', यानी अँग्रेज साम्राज्य के सेवक रहे थे। यह स्थिति सन् 1919-20 तक रही थी। यानी अपनी आयु के 50 वर्ष तक गाँधी भारत में अँग्रेजी राज के सैद्धान्तिक व्यावहारिक समर्थक थे! जिन्ना में यही कभी नहीं था। काँग्रेस में और होमरूल लीग में तिलक, एनी बेसेंट, जैसे नेताओं के साथ जिन्ना की राजनीति अँग्रेजी शासन के विरुद्ध थी। यह जरूर है कि वैयक्तिक रूप में जिन्ना में अहंकार था। किन्तु नेहरू के विपरीत जिन्ना के विचारों में किसी रूमानियत, भावुकता, क्रान्तिवादिता, प्रगतिशीलता, चापलूसी-पसन्दगी या ओढ़ी गई मनोवृत्ति (Pretensions) का संकेत नहीं मिलता।

ऐसा व्यक्ति कैसे एक इस्लामी राजनीतिक बन गया, और समय के साथ भारत के मुसलमानों का 'एकमात्र प्रवक्ता' बन गया—यह इतिहास का एक रोचक प्रश्न है। किन्तु यह जिन्ना के समकालीन अवलोकनकर्ताओं के लिए भी एक पहेली-सा ही था। न केवल इसलिए कि जिन्ना का रहन-सहन, आचार-व्यवहार, मिजाज-अन्दाज, विचार-विश्वास कुछ भी इस्लाम से दूर-दूर तक मेल नहीं खाता था। बल्कि इसलिए भी कि वे राजनीति में मजहबी तत्त्व लाने के सख्त खिलाफ थे।

वस्तुतः सन् 1920 में काँग्रेस नेताओं में सबसे प्रमुख जिन्ना ही थे, जिसने गाँधी को इस्लाम के अन्तरराष्ट्रीय खलीफत आन्दोलन को समर्थन देने और मुल्ला-मौलवियों को राजनीतिक जमीन प्रदान करने से कठोरतापूर्वक मना किया था। 1928 तक, यानी अपनी आयु के 52 वर्ष तक, जिन्ना हिन्दू-मुस्लिम एकता की गम्भीर

पैरोकारी करते रहे थे। उनका ठीक ही मानना था कि यह एकता होते ही भारत को डोमीनियन स्टेट्स मिल जाएगा। वही जिन्ना कुछ ही वक्त बाद यह कहने लगे कि "पाकिस्तान बनना तो उसी दिन से शुरू हो गया था जब हजार साल पहले भारत में पहला गैर-मुस्लिम इस्लाम में धर्मान्तरित हुआ था।" और यह कि "या तो भारत का विभाजन होगा या भारत का विनाश।"

जिन्ना के इस वैचारिक कायाकल्प के पीछे कुछ लोग वैयक्तिक हेठी को भी कारण मानते हैं जो गाँधी के भारतीय राजनीति के रंगमंच पर उभरने, और भीड़ वाली राजनीति शुरू करने से जिन्ना को प्रतीत हुई। यदि जिन्ना को कोई प्रतिद्वन्द्विता रही, तो गाँधी से ही। उम्र में भी जिन्ना गाँधी के निकट थे। गाँधी जिन्ना से सात वर्ष ही बड़े थे। जब कि नेहरू जिन्ना से तेरह वर्ष छोटे थे। जब जवाहरलाल का राजनीति में पदार्पण भी नहीं हुआ था, तभी जिन्ना काँग्रेस के सबसे बड़े नेताओं में से एक थे। उन्हें कुछ ग्रहण लगा तो गाँधी के आगमन से ही।

बाद में भी, जिन्ना को गाँधी जी के समानान्तर देखा जाता था। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने 1943 में महादेव गोविन्द रानाडे की एक-सौ एकवीं जयन्ती पर पूना की दकन सभा द्वारा आयोजित सभा में विशेष व्याख्यान दिया था। उसमें रानाडे की महानता की पृष्ठभूमि में समकालीन 'दो महान व्यक्तियों' की चर्चा थी, जो 'भारतीय क्षितिज पर बिना नाम लिये पहचाने जा सकते हैं'। यह दो व्यक्ति गाँधी और जिन्ना थे। पूरे भाषण में नेहरू का कोई उल्लेख तक न था।[7] यह स्थिति सन् 1943 की थी।[8]

गाँधी-जिन्ना की आपसी शुरुआत ही अशुभ हुई। सन् 1915 में दक्षिण अफ्रीका से गाँधी के भारत आगमन पर उनके स्वागत में गुजरात सोसाइटी के अग्रणी नेताओं में जिन्ना थे। वस्तुतः जिस सभा में गाँधी से जिन्ना की पहली भेंट हुई, उसकी अध्यक्षता जिन्ना ही कर रहे थे। किन्तु गाँधी जी के पहले शब्द सुनते ही जिन्ना को झटका लगा, जब उन्होंने "एक मुसलमान भाई के समिति का सदस्य ही नहीं, बल्कि उसकी अध्यक्षता भी करने पर" प्रसन्नता व्यक्त की। यह शब्द स्पष्टतः एक तरह की दूरी का बोध कराते थे कि एक मुसलमान का वैसे स्थान पर होना सामान्य नहीं। स्टैनले वोलपर्ट ने अपनी पुस्तक *जिन्ना ऑफ पाकिस्तान* में लिखा है कि उस प्रथम उक्ति ने ही दोनों के बीच का सम्बन्ध सदा के लिए स्थापित कर दिया—गलतफहमी और गहरे तनाव का सम्बन्ध। सच पूछिए तो प्रतिद्वन्द्विता का सम्बन्ध।

गाँधी के विचार और तौर-तरीके भी जिन्ना के लिए अरुचिकर थे। उनकी और अनेक कांग्रेसियों की वेश-वूषा, विचार जिन्ना को दिखावा प्रतीत होते थे। गाँधी में अपने सहयोगियों और आम लोगों के प्रति भी एक तरह की खुली अधिकार-वृत्ति से भी जिन्ना चिढ़ते थे। गाँधी का भाव ऐसा प्रतीत होता था, मानो उनकी बात सबको माननी ही चाहिए। और जो ऐसा नहीं करता, वह बेचारा भ्रमित और अज्ञानी है। यह मनोवृत्ति किसी भी स्वतन्त्र मस्तिष्क व्यक्ति को अरुचिकर लगती।

साथ ही, गाँधी अपने को महान, त्यागी, निस्पृह आदि मानकर चलते थे। यानी ऐसा श्रेष्ठ, जैसे प्रायः दूसरे लोग नहीं हैं। एक बार जब कई प्रेस फोटोग्राफर जिन्ना और गाँधी को घेरकर तस्वीरें खींच रहे थे, तो गाँधी ने जिन्ना से कहा, "आपको यह अच्छा लगता है, है न?" छूटते ही जिन्ना ने कहा, "उतना नहीं, जितना आपको यह अच्छा लगता है।"[9] सत्यनिष्ठा का तकाजा है कि इस प्रसंग में जिन्ना की बात अधिक सही थी। जिन्ना की तुलना में गाँधी अधिक आत्ममुग्ध रहे थे, यह दोनों के जीवन, विचारों, बयानों और कार्य पर सरसरी नजर डालने से भी दिख जाता है।

गाँधी जी का अपने विचार, शैली और कार्यों पर अप्रतिम विश्वास भी जिन्ना को क्षुब्ध करने वाला था। यह एक कारण रहा होगा कि गाँधी की लोकप्रियता बढ़ने, अपना महत्त्व घटने और काँग्रेस नेताओं द्वारा सत्ता में मुसलमानों को पर्याप्त भागीदारी देने से इनकार के बाद जिन्ना को काँग्रेस से वितृष्णा हो गई। अन्ततः वे निराश होकर वापस लन्दन चले गए और फिर वकालत में लग गए। मगर शायद मन में कोई फाँस और राजनीतिक जीवन-कार्य के अधूरे रहने का अफसोस रहा होगा, जिसके लिए जिन्ना ने लियाकत अली खान का वह प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसमें उन्हें अपनी शर्तों पर मुस्लिम लीग का एक छत्र, तानाशाह-सा नेता बनने का आग्रह किया गया था।

वस्तुतः डॉ. भीमराव अम्बेडकर के अनुसार गाँधी और जिन्ना, दोनों ही अधिकार-वृत्ति से ग्रस्त थे, जो "बराबरी का भाव रखने वालों से कतराते थे, और केवल उन्हीं के साथ खुलते थे और व्यवहार रखना पसन्द करते थे जो स्वयं को (विचार-बुद्धि-समझ में) उनसे छोटा मानकर चलते हों"। यह एक म्यान में दो तलवारों जैसी असम्भव स्थिति थी। डॉ. अम्बेडकर ने गाँधी और जिन्ना को भारी अहंकार ('colosal egotism') से ग्रस्त व्यक्ति माना था, जिन दोनों ने भारतीय राजनीति को अपने 'निजी झगड़े' का विषय बनाकर भारतीय राजनीति की प्रगति को 'एकदम ठहराव' की स्थिति में ला दिया।[10]

जिन्ना को कुशल वार्ताकार माना जाता है। अपनी जिद पर अड़ने वाला और समझौते न करने वाला भी। किन्तु यह सब जिन्ना को पाकिस्तान नहीं दिला सकता था, यदि अलगाववादी मानसिकता के साथ एक प्रभावी मुस्लिम समाज उनकी पीठ पर डटकर न खड़ा होता। ध्यान दें कि जिन्ना मुसलमानों के नेता बन ही तभी सके, जब उन्होंने विशुद्ध मजहबी अन्दाज अपनाया। उससे पहले अपने उन्हीं सभी नेतृत्व गुणों के साथ वह मुसलमानों को अपने पीछे नहीं कर सके थे! इस अर्थ में जिन्ना ने मुसलमानों की अगुवाई नहीं की, बल्कि कटिबद्ध मुसलमानों ने उन्हें खींचकर वहाँ ला खड़ा किया, जहाँ से वह कायदे-आजम कहला सके।

जबकि नेहरू के साथ ठीक उल्टा रहा। उन्होंने हिन्दू समाज की पूरी उपेक्षा की, उस पर तमाम किस्म के विदेशी विचार, विजातीय आग्रह, नियम-कानून आदि लादे। मगर उसी जनता ने उन्हें भरपूर सम्मान दिया। इसमें गाँधी जी द्वारा नेहरू को अपना

'उत्तराधिकारी' घोषित करने की निर्णायक भूमिका थी। नेहरू गाँधी के प्रिय थे, इसलिए गाँधी-भक्त जनता ने नेहरू को अपना प्रेम दिया।

दूसरी ओर, आधुनिक शिक्षित हिन्दुओं के बीच यूरोपीय, हिन्दू-उदासीनता मानसिकता के वर्चस्व से उनके बीच भी नेहरू को बहुत प्रतिष्ठा मिली। इस रूप में, नेहरू उस आधुनिक हिन्दू उच्च-वर्ग के प्रतिनिधि ही थे, जो यूरोपीय अनुकरण में अपने देश की भाषा, संस्कृति और धर्म से उदासीन हो चुका था। इन दो कारणों से हिन्दू जनता के बीच नेहरू को लोकप्रिय बनने में आसानी रही।

इसके विपरीत जिन्ना को मुस्लिम समाज के बीच लोकप्रियता पाने के लिए अपने सेक्यूलर-यूरोपीय विश्वासों को त्यागना पड़ा और इस्लामी चोला पहनना पड़ा। प्रसिद्ध विद्वान डॉ. अजीज अहमद ने अपनी पुस्तक *स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर* में इसे सटीक रूप से व्यक्त किया है, "उन्होंने (जिन्ना ने) मुस्लिम जनता का नहीं, बल्कि मुस्लिम सहमति ने जिन्ना का नेतृत्व किया। उनकी भूमिका एक ईमानदार और साफ दिमाग वाले वकील की थी जो अपने मुवक्किल की इच्छा को बिल्कुल सटीक शब्दों में रख सकता था।"[11]

इसी से यह भी स्पष्ट होता है, पाकिस्तान बना चुकने के बाद वही जिन्ना फिर से अपने ही मुस्लिम समाज के लिए क्यों अप्रासंगिक हो गए। क्योंकि जिन्ना ने पाकिस्तान को उदारवादी, लोकतान्त्रिक, सेक्यूलर गणतन्त्र बनाने की इच्छा व्यक्त की,[12] जिसमें प्रत्येक धर्म, मजहब, फिरके के लोग समान भाव से रहें। यह उस भावना और तर्कों से नितान्त विपरीत था, जिनके आधार पर पाकिस्तान बनाया गया था।

एक अर्थ में, गाँधी, जिन्ना और नेहरू—तीनों ही किसी ग्रीक ट्रेजेडी के पात्र प्रतीत होते हैं। एक में अपने महात्मा होने तथा सबको जीतने, सब कुछ समझने का अहंकार था, जो पूरी तरह विफल साबित हुआ। दूसरे ने अपने मूल विचारों से समझौता कर राजनीतिक दाँव खेला, अलग देश बनवाया। मगर इस तरह जीतकर भी अपने मूल विचारों को स्वयं धराशायी कर दिया। तीसरे की वामपन्थी विचारधारा ने उसे पूरी उम्र छला और अन्ततः उसी धक्के से उसकी मृत्यु हुई, क्योंकि उसकी विचारधारा का बचकानापन जगजाहिर हो जाने के बाद वे अपने ही मित्रों, सहयोगियों के बीच दयनीय लगने लगे थे।

इस संयुक्त ट्रेजेडी का एक निष्कर्ष यह है कि राजनीतिक कार्य और राजदर्शन हल्की चीज नहीं है। इसे करना तो दूर, ठीक से समझने के लिए भी बड़ी गम्भीरता, परिपक्वता की आवश्यकता होती है। जैसा प्लेटो ने कहा था : नवयुवाओं तक को दर्शन पढ़ने के लिए नहीं कहना चाहिए। वर्षों, दशकों तक सामान्य जीवन के विविध श्रम करने और अनुभव के बाद ही उसे समझना आरम्भ किया जा सकता है। वास्तविक राजनीति दर्शन का ही अंग है। इसी रूप में उसे 'मास्टर साइन्स' कहा गया था।

हमारे तीनों नायक उसमें फेल रहे थे।

सन्दर्भ स्त्रोतः

1. नेहरू के शब्द, "By education I am an Englishman, by views an internationalist, by culture a Muslim, and I am a Hindu only by accident of birth." लाहौर बुलेटिन, 9 जनवरी, 1930 में उद्धृत
2. नीरद सी. चौधरी, द कंटिनेंट ऑफ सर्स (लन्दन, 1965), पृ. 249.। नीरद चौधरी ने इसे इस सन्दर्भ में लिखा था, "इस नितान्त निजी तथ्य ने स्वतन्त्र भारत में मुसलमानों की स्थिति निर्धारित करने में निश्चित रूप से भूमिका निभाई है।" हम कह सकते हैं कि भारत के विचित्र किस्म के सेक्यूलरिज्म की रूपरेखा तय करने में भी।
3 नेहरू पूर्णतः ईसाई, मिशनरी, यूरोपीय और रेडिकल-वामपन्थी शिक्षकों-पुस्तकों संस्थानों-संगतियों से पढ़-लिखकर तैयार हुए थे। इसे उनकी अपनी आत्मकथा पढ़कर भी समझा जा सकता है।
4. ए. गोरेव और वी. जिम्यानिन, जवाहरलाल नेहरू (मॉस्को, 1982), पृ. 89-90
5. शाम लाल "द नेहरूवियन लीगेसी", उन्हीं की पुस्तक इंडियन रियलिटीज इन बिट्स एंड पीसेज (नई दिल्ली, 2003), पृ. 98
6. लियोनार्ड मोसले, द लास्ट डेज ऑफ द ब्रिटिश राज, (बम्बई, 1971), पृ. 85।
7. बी. आर. अम्बेडकर, रानाडे, गाँधी एंड जिन्ना (जालन्धर, 1964)
8. यह तो बाद में स्वतन्त्र भारत में हुआ कि नेहरू परिवार की स्थाई सत्ता बनने और उससे लाभ उठाने वाले इतिहासकारों ने नेहरू की महानता उनकी युवावस्था से ही दिखानी शुरू कर दी। कुछ उसी तरह जैसे सोवियत सत्ता पर स्तालिन का एकच्छत्र अधिकार जम जाने के बाद उसे सन् 1900 से ही लेनिन के साथ या बराबर महान दिखाया जाने लगा, जबकि 1924-25 तक भी रूसी कम्युनिस्ट नेतृत्व में स्तालिन का कोई विशेष स्थान न था। वैसे ही 1945 तक नेहरू की स्थिति अनेक काँग्रेस नेताओं के समकक्ष थी। वह 'गाँधी-नेहरू' वाले नेहरू तब तक नहीं बने थे। सत्ता और बार-बार दुहराव के तर्क से वह बाद में गाँधी के समान, बल्कि कुछ विषयों में उनसे भी अधिक महान बना दिए गए!
9. बी.पी. श्रीवास्तव द्वारा उद्धृत। "ट्रुथ एंड फिक्शन", द पायोनियर दैनिक, नई दिल्ली, 9 जून, 2005
10. बी. आर. अम्बेडकर, रानाडे, गाँधी एंड जिन्ना (जालन्धर, 1964), पृ. 35, III, आदि। अम्बेडकर का सम्पूर्ण आकलन पठनीय और विचारोत्तेजक है।
11. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 276; के. आर. फंडा द्वारा उद्धृत। "ट्रुथ एंड फिक्शन", द पायोनियर दैनिक, नई दिल्ली, 22 अगस्त, 2005
12. उनका 11 अगस्त, 1947 वाले भाषण के अंश जिसे उद्धृत कर और उसकी प्रशंसा कर लालकृष्ण अडवाणी 2005 में मुसीबत में फँसे, जिसके बाद उनके राजनीतिक कैरियर को ग्रहण लग गया।